पूज्य लालचंदभाई का प्रवचन
श्री समयसार, गाथा ३१, ता. ७-४-१९८९
भिंड, प्रवचन नंबर P१२

यह श्री समयसार जी परमागम शास्त्र है। उसका प्रथम जीव नाम का अधिकार, अर्थात् जीव का, अर्थात् शुद्धात्मा का क्या स्वरूप है और उसको पाने के लिए क्या विधि है, प्राप्त करने के लिए कैसी विधि है, अर्थात् शुद्धात्मा का दर्शन होते ही मोह मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। तो ये मोह मिथ्यात्व का नाश क्यों नहीं होता है, ये अनादिकाल से एक दो भूल हैं। दो भूल में एक भूल का विवेचन तो बहुत हो गया कि आत्मा अपने परिणाम का भी कर्ता नहीं है, अकर्ता है। जिसको परिणाम में कर्तृत्वबुद्धि लगती है, वो तो उसकी दृष्टि बहिर्मुख रहती ही है। एक बात तो बहुत विस्तार से आ गई। पहले मैं अकर्ता हूँ, ऐसा निर्णय करना चाहिए। अकेला अकर्ता नहीं, अकर्ता तो एक धर्म है। अकर्ता ऐसा ज्ञायक, तो ज्ञायक में अनंतगुण आ जाते हैं। ऐसा मैं हूँ, केवल मैं ज्ञाता हूँ। सर्वथा ज्ञाता हूँ। कथंचित् ज्ञाता, कथंचित् कर्ता, ऐसे कथंचित् स्वभाव में नहीं होता है। जल कथंचित् शीतल और जल कथंचित् उष्ण, स्वभाव में कथंचित् होता नहीं है। ऐसे अग्नि उष्ण, तो सर्वथा ही उष्ण है। कथंचित् उष्ण और कथंचित् ठंडी, ऐसा स्वभाव में नहीं है। जो कथंचित् का आदर करते हैं, वो स्वभाव की दृष्टि उसमें नहीं आती है। पहले अपना स्वभाव क्या है, वह समझना चाहिए।

आज बाबूजी ने एक सबके प्रति लाल-बत्ती धरी कि पहले तो भाषा बदलनी चाहिए। क्या कहा? भाव तो बाद में बदलता है। मगर भाषा ही नहीं बदलती है, तो भाव कहाँ से बदले? तो ऐसे विचार आया कि यह ज्ञान शिविर में सुना है कि लगभग पचास विद्वान इधर आए हैं। बहुत अच्छी बात है। खुशी की बात है। क्यों खुशी की बात है? कि वो अपने-अपने गाँव के अंदर निरंतर स्वाध्याय करते हैं। दूसरे सुनते हैं। समझे? तो ये वक्ता की जवाबदारी ज़्यादा है। श्रोता से ज़्यादा जवाबदारी वक्ता की है। आहाहा! उसने तो वहीं से शुरुआत करनी चाहिए कि मैं ज्ञायक होने से मैं जाननहार हूँ। ज्ञायक होने से मैं करनार नहीं हूँ क्योंकि करना मेरे स्वभाव में नहीं है, मेरे धर्म ही नहीं है। मेरा धर्म तो मात्र only, फ़क्त, जानना-देखना मेरा स्वभाव है। आहाहा! वहाँ से शुरुआत होती है। तो ये संदेशा लेकर अपने-अपने गाँव में जाकर...ये कुंदकुंद भगवान का संदेशा है। ये बाबूजी का और लालचंदभाई का संदेशा नहीं है। आत्मा स्वभाव से ही ज्ञायक है। अनादि-अनंत ज्ञायक है। एक समय भी अपने अकर्ता ऐसे ज्ञायकभाव को छोड़कर, कोई रागादि का कर्ता बन जाए, तीनकाल में बननेवाला नहीं है। मानता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। उसको सम्यग्दर्शन होनेवाला नहीं है। आहाहा!

तो एक बात तो चली। दो ही पाठ हैं, ज़्यादा तो पाठ है ही नहीं। पाठ कहें, क्या कहें? पाठ, दो पाठ हैं। एक तो आत्मा अकर्ता-ज्ञायक है। दूसरा पाठ अभी चालू हो गया कि मैं जाननेवाले को जानता हूँ, पर को जानता नहीं हूँ। वह दूसरा पाठ है। बस वहाँ पूर्णविराम होता है, तीसरा पाठ नहीं है। सब दो का विस्तार है। जो चार अनुयोग हैं ना, वो दो का ही विस्तार है और संक्षेप में दो आ गया। संक्षेप

करके, अपने को क्योंकि अपनी बुद्धि कम है, अपनी बुद्धि ज़्यादा (नहीं है), क्षयोपशम कम है इस काल में तो। तो ये मैं अकर्ता-ज्ञायक हूँ, ऐसा पहले पक्ष में तो आ जा, पक्षांतिक्रांत तो बाद में होगा। मगर जो पक्ष में आता है, उसको पक्षांतिक्रांत अवश्य होता है। (उसको) अनुभव हो जाता है। मगर कर्ता के पक्षवाले को, वो तो व्यवहार का पक्ष है, उससे पक्षातिक्रांत होता नहीं है। आत्मा अकर्ता-ज्ञायक, त्रिकाल ज्ञायक, जाननहार, जाननहार, जाननहार, बस। मैं, ऐसा ही मेरा स्वभाव है। जो कुछ भी है, उसको भी जानूँ और होता है, उसको भी जानूँ। है, उसको भी प्रथम जानूँ और बाद में होने योग्य होता है, उसको बाद में जानूँ। मगर जानूँ-जानूँ (बस), बीच में करना आता ही नहीं है। जिसको सम्यग्दर्शन हो गया, उसको आदि-मध्य-अंत में जानना ही रहता है। बीच में कोई करने का भाव आता नहीं है। करने का अभिप्राय नहीं आता है, करने का अभिप्राय नहीं आता है। भाषा में ये किया, ये करना, ऐसा आता है। मगर अभिप्राय में (नहीं आता है)। आहाहा! ज्ञाता जो (वो) साक्षात् हो गया।

तो ये अभी दूसरा पाठ चलता है कि आत्मा पर को जाननेवाला नहीं है। पर को जो जानता है, वो इंद्रियज्ञान है और इंद्रियज्ञान मेरा स्वभाव नहीं है। इंद्रियज्ञान जीतने का ये पाठ है। इंद्रियज्ञान को जो जीतता है, उसको आत्मा का अनुभव होता है, उसका नाम जितेंद्रिय-जिन है, जितेंद्रिय-जिन है। इंद्रियों को जीतने के लिए आँख फोड़ने की ज़रूरत नहीं, कान में डट्टा लगाने की ज़रूरत नहीं। ऐसे इंद्रियजीत नहीं होता है। इंद्रियज्ञान होने पर भी, इंद्रियज्ञान का स्वामित्व छूट जाता है और अतीन्द्रियज्ञानमय भगवान आत्मा में स्वामित्व आ जाता है। उसका नाम इंद्रियज्ञान (को) जीतना कहा जाता है। भले इंद्रियज्ञान रहे, इंद्रियज्ञान रहने से कोई आपत्ति नहीं है। ऐसा देह भी है, कर्म भी है, राग भी है और इंद्रियज्ञान भी है। है तो उसमें है, मेरे में नहीं है। ऐसा भेदज्ञान हो जाता है। अनुभूति के काल में इंद्रियज्ञान और अतींद्रियज्ञान परमात्मा, ये दो चीज़ भिन्न-भिन्न हैं। अनुभव के बाद इंद्रियज्ञान, ज्ञान है, ऐसा भासित नहीं होता है। वो तो परज्ञेय है। ध्येय भी नहीं और स्वज्ञेय भी नहीं। वो तो परज्ञेय है। आहाहा! इसलिए हेय है। उपादेय नहीं है। अर्थात् वो आत्मा का, कर्ता का कर्म भी नहीं है। आहाहा!

एक कर्ता-कर्म, अज्ञानमय (है)। बाबूजी ने बताया था कि कर्ता और कर्म एक अज्ञानमय होता है और बाद में अकर्ता की दृष्टि आती है, तो आत्मा कर्ता और आत्मा का ज्ञान, आत्मा का ज्ञान कर्म, ऐसी सम्यक् कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति भी होती है। आहाहा! कर्ता-कर्म का अज्ञान कर्ता-कर्म से जाता है, मगर दृष्टि अकर्ता पर आवे तब। आहाहा! ऐसे अभी वो चलता है, इंद्रियज्ञान को जीतने का उपाय। इंद्रियज्ञान है, मौजूद होने पर, वो मैं नहीं हूँ। उससे अधिक मेरा आत्मा है, तो इंद्रियज्ञान का लक्ष्य छोड़कर, उसमें ममत्व छोड़कर, वो मेरा है, ऐसा अभिप्राय छोड़कर, वो वहाँ से हटकर अतींद्रियज्ञानमय भगवान आत्मा में परिणति आती है। तो अतींद्रियज्ञान के द्वारा ही अतींद्रियज्ञानमय आत्मा जानने में आ जाता है। तो इंद्रियज्ञान भिन्न है, ऐसा भान हो जाता है।

भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयोंमें व्यापारभावसे जो विषयोंको खण्डखण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञानको खण्डखण्डरूप बतलाती हैं) ऐसी भावेन्द्रियोंको.....पहले द्रव्येन्द्रिय को जीतने का पाठ आ गया। अभी भावेन्द्रिय, खंडज्ञान। एक इंद्रिय का एक विषय है, दूसरी इंद्रिय का दूसरा विषय है,

तीसरी इंद्रिय का तीसरा विषय है। एक इंद्रिय का सब विषय नहीं है। एक इंद्रियज्ञान है, भावेन्द्रिय, उसका पाँच विषय नहीं है। क्या कहा? आँख से देखे भी सही और आँख से स्पर्श भी करे और सुगंध भी आए, ऐसा होता नहीं है। एक-एक इंद्रिय का विषय एक-एक होता है, खंड-खंड। और अतींद्रियज्ञान का विषय सारा विश्व आ जाता है। कोई बाकी रहता नहीं है। इंद्रियज्ञान क्रम-क्रम से जानता है, अतींद्रियज्ञान अक्रम से जानता है। इंद्रियज्ञान (में) क्रम-क्रम से जानने से एक इंद्रिय का विषय तो जाना, मगर दूसरे इंद्रिय का विषय बाकी रह गया, तो विषय का प्रतिबंध हो गया। विषय का प्रतिबंध हुआ, जो जानने में नहीं आता है, उसकी इच्छा की उत्पत्ति होती है।

क्या कहा? एक इंद्रिय का विषय मात्र एक ही है। स्पर्शेन्द्रिय का विषय एक ही है, ठंडा, गरम। उसको जानता है। मगर वो खट्टा-मीठा का स्वाद स्पर्शेन्द्रिय जानती नहीं है। ऐसे एक-एक इंद्रिय को जानने से आत्मा का स्वभाव, ज्ञान का स्वभाव, ज्ञान की पर्याय का स्वभाव, समयमात्र में स्व और पर पूरा जानने का स्वभाव है, श्रुतज्ञान का। क्या कहा? केवलज्ञान का तो पूरा स्वभाव है, मगर जो श्रुतज्ञान केवलज्ञान का एक अव्यव, अंश है.... जो श्रुतज्ञान आत्मा के अभिमुख हुआ, उसमें शुद्धात्मा का दर्शन हुआ, आत्मा को जाना, आत्मा, सामान्य आत्मा (को) उपादेयपने जाना, सामान्य ध्रुवतत्त्व उपादेयरूप से जानने में आया, तो सामान्य में जितने अनंतगुण हैं, वो जानने में आ गए। उसमें क्रम नहीं पड़ता है कि ज्ञानगुण को पहले जाने, दर्शनगुण को बाद में जाने। जो एक ज्ञान गुण को जाने और बाकी अनंतगुणों को न जाने, तो विषय का प्रतिबंध होने से इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा दुःख का मूल है। इंद्रियज्ञान हो गया, अतींद्रियज्ञान का विषय ऐसा नहीं है।अतींद्रियज्ञान तो सारा अनंत गुणात्मक पदार्थ को एक समय में जानता है। सामान्य को तो जानता है, मगर जो विशेष पर्याय है, अनंत पर्याय, अनंत पर्याय को भी वो ज्ञान जानता है। आहाहा! पर्याय के सन्मुख होने (से) पर (को) जानता है, ऐसा नहीं। द्रव्य की सन्मुखता छूटती नहीं है और अनंत पर्याय जानने में आ जाती है। और अपेक्षित धर्म नित्य-अनित्य, एक-अनेक, अनंत धर्म हैं। वो अनंत धर्मों को भी एक समय में जान जाता है। समय भेद नहीं है और कोई विषय बाकी रहता नहीं है।

आत्मा का सर्व जितना अंदर में विषय है, गुण, कारक, भेद या पर्याय या धर्म, ये सब एक समय में जानने में (आ जाते हैं)। जिसने शुद्धात्मा को, एक ज्ञेय को पूर्ण जाना, वो सारे विश्व को, ज्ञेय को, एक समय में जान लेता है। ऐसी स्वपरप्रकाशक शक्ति आत्मा में सामर्थ्य है। इतना सामर्थ्य श्रुतज्ञान की पर्याय में है, मगर स्वभाव और सामर्थ्य, स्वभाव की अधिकता से उपादेय तत्त्व जानने में आया, उसको सामर्थ्य प्रगट होता है। जिसको सामर्थ्य के प्रति रुचि है, उसको स्वभाव के प्रति अरुचि है। तो स्वभाव सन्मुख होता नहीं है। आहाहा! संध्या जी!

फिर से, आहाहा! दूसरा पाठ चलता है, इंद्रियज्ञान जीतने का। एक पाठ तो पूरा हो गया। इंद्रियज्ञान का स्वभाव ही है क्रम-क्रम से जानना और एक विषय को जानना। और दूसरा विषय तो तिरोभूत हो जाता है, आच्छादित होता है, जानने में आता नहीं है। इसलिए इच्छा उत्पन्न होती है क्योंकि ज्ञान का विषय.... ज्ञान की तृप्ति तब होती है.... इच्छा कब नहीं उत्पन्न होती है? कि सारा स्व-पर (का) विषय एक समय में जानने में आता है। जैसा केवलज्ञान का विषय है, उतना ही श्रुतज्ञान का विषय है।

स्व-पर दो ही, स्व-पर दो ही। आहाहा! केवलज्ञान में जो बाकी रहे, जानने का बाकी रह जाए, तो श्रुतज्ञान में रह जाए। केवलज्ञान में कोई भी बाकी है नहीं, तो श्रुतज्ञान जो अतीन्द्रियज्ञान (में) जिसको आत्मा का अनुभव होता है, उस ही समय स्वपरप्रकाशक शक्ति है, तो सहज वो ज्ञान में ज्ञेय हो जाता है। ज्ञेय के सन्मुख होता नहीं है। ज्ञायक की सन्मुखता छूटती नहीं है और स्व और पर सारा विश्व, अंदर में ज्ञान में झलकता है, प्रतिभासता है। उपयोग की ज़रूरत नहीं है। वहाँ उपयोग की ज़रूरत नहीं है।

ऐसे खंड-खंड ज्ञान एक-एक को जाने तो दूसरे ज्ञान का प्रतिबंध हुआ। जानने में रुकावट हो गई, तो दूसरा पदार्थ जानने की इच्छा हो जाती है। जैसे दो भाई बातचीत करते हैं। अरे! क्या बात करता है, क्या बात करता है? ऐसी जिज्ञासा रहती है। समझे? कोई पत्र आया तो किसका पत्र होगा, किसका पत्र होगा? जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा क्यों होती है? कि आत्मा का स्वभाव का ज्ञान, जो ज्ञानस्वभाव है, सबको जानने का है, उसमें रुकावट होती है, वही दुःख है। वही दुःख है क्योंकि इच्छा उत्पन्न होती है ना, दूसरे पदार्थ को जानने की। प्रतिबंध हुआ ना? विषय का प्रतिबंध इसका नाम प्रतिकूलता है। पंचास्तिकाय में (१६३ गाथा में) ऐसा पाठ है। मूल श्लोक है। ज्ञान को विषय का प्रतिबंध यानि थोड़ा जानने में आये और बाकी जानने में न आवे, इसका नाम विषय का प्रतिबंध हुआ। वो प्रतिबंध हुआ, उसका नाम प्रतिकूलता और प्रतिकूलता का नाम दुःख है। आहाहा! परिभाषा है। आहाहा! दुःख की परिभाषा कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान है और ज्ञान का स्वभाव आत्मा को जानने का है। जानते-जानते सब जणित (जानने में आ) जाता है। उसमें थोड़ा पदार्थ जानने में आवे और थोड़ा न जानने में आवे, तो विषय का प्रतिबंध होता, तो जानने की इच्छा उत्पन्न होती है, तो इच्छा दुःख का मूल है। श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा, इच्छा दुःख का मूल है। इच्छा की उत्पत्ति क्यों होती है? कि विषय का प्रतिबंध होता है आहाहा!

ये दीवाल के पीछे क्या है? वहाँ क्या है? जानता नहीं है, तो जानने की इच्छा (होती है)। मगर जिसने आत्मा जान लिया, उसने सारा विश्व जान लिया। परोक्ष-प्रत्यक्ष गौण कर दो। प्रत्यक्ष और परोक्ष गौण करो। जितना केवलज्ञान का विषय है, उतना श्रुतज्ञान का विषय है। तो श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जाना, तो अनंतगुण जानने में आ गया, अनंतपर्याय जानने में आ गई, अनंत अपेक्षित धर्म भी जानने में आ गया। तो एक ज्ञेय सारा जान लिया, उत्पादव्ययध्रोव्ययुक्तम्सत् मैं हूँ, गुणपर्यायवद्द्रव्यम् मैं हूँ। सारा एक ज्ञेय पूरा हो गया, तो सारा विश्व का ज्ञेय अंदर में जानने में आ गया। एक ज्ञेय को यथार्थ जाने तो अनंतज्ञेय यथार्थ उसने जान लिया। ऐसी ज्ञान की ताकत है, श्रुतज्ञान की ताकत। भरोसा आना चाहिए। अरे! ज्ञान की पर्याय का भरोसा नहीं हो, तो ज्ञान गुण की शक्ति क्या है, उसका भरोसा कहाँ से आवे? और एक गुण का भरोसा न आवे तो अनंतगुण का पिंड परमात्मा, इसका भरोसा कहाँ से आवे?

बाबूजी:- सब जानने में नहीं आवे तो इच्छा पैदा होती है।

उत्तर:- हाँ! सब जानने में नहीं आवे, थोड़ा जानने में आवे, तो इच्छा उत्पन्न होगी। आहाहा! अनुभूति के समय सब जानने में आता है। कोई जानना बाकी नहीं रहता है, इसलिए इच्छा उत्पन्न नहीं होती है, वीतरागता प्रगट होती है। आहाहा! ऐसी श्रुतज्ञान की ताकत है। इंद्रियज्ञान को जीतने का पाठ

है, इंद्रियज्ञान को जीतने का पाठ है।

नमः समयसार का मांगलिक पहले कलश में राजमल जी "जैन धर्म का मर्मी" हो गए, चार सौ साल पहले। अनुभव की मुख्यता से ये संस्कृत शब्द का अर्थ क्या है, वो दरकार किए बिना, आहाहा! ऐसा अनुभव की प्रधानता से अर्थ किया उन्होंने। उन्होंने पहले श्लोक में कहा, प्रथम, नमः समयसार की टीका करते-करते राजमल जी साहब फ़रमाते हैं कि, ये इंद्रियज्ञान को जीतने की बात चलती है। उनके अनुसंधान में है कि संसारी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, उसमें सुख भी नहीं है और ज्ञान भी नहीं है और उसको जाननेवाले को ज्ञान भी नहीं है, सुख भी नहीं है। दो बात किया। वहाँ की दो बात किया। अभी इधर की दो बात करते हैं कि आत्मा में सुख भी है और ज्ञान भी है और उसको जाननेवाले को सुख भी है और ज्ञान भी है। तो जहाँ तेरी कार्यसिद्धि नहीं होती है, सुख भी नहीं मिलता है, ऐसा-ऐसा करने पर और ज्ञान भी प्रगट नहीं होता है। अज्ञान प्रगट होता है, साध्य की सिद्धि नहीं है। तो जानने का जो अभिप्राय बना रखा है, जानने की जो रुचि है, वो रुचि छोड़ दे। आहाहा! वैक्यूम ब्रेक लगा दे कि मैं पर को जाननेवाला नहीं हूँ। एक बार तो धड़ाका कर दे। आहाहा! एकांत हो तो भले हो, मगर ऐसा आहाहा! अज्ञानी की बात तू मत सुन। अनुभवी की बात तू सुन कि अनुभव कैसे होता है? आहाहा! ये अनुभव की प्रक्रिया की गाथा है। आहाहा!

अज्ञानी तो तूफान करता है। क्या पर को नहीं जानता है? क्या स्वपरप्रकाशक नहीं है? आहाहा! अकेला स्वप्रकाशक है? भैया! स्वपरप्रकाशक में साध्य की सिद्धि नहीं। पर प्रकाशक में तो नहीं है, मगर स्वपरप्रकाशक में भी ज्ञान की सिद्धि नहीं है, प्रयोजन की सिद्धि नहीं है। स्वप्रकाशक ज्ञान में साध्य की सिद्धि होती है, तो स्वपरप्रकाशक व्यवहार का जन्म होता है। आहाहा! स्व को जाने तो निश्चय और स्व-पर दोनों को जाने, सो व्यवहार। क्या कहा? स्व को जाने सो निश्चय और स्व-पर दोनों को जाने, सो व्यवहार। मगर भेद अपेक्षा से बारहवीं गाथा में लिखा है, व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है। आहाहा! मगर वो पर्याय को जब जानता है, उसकी मुख्यता से कहा कि साधक सविकल्पदशा में पर्याय को जानता है, तो अकेली पर्याय को नहीं जानता है। स्वपरप्रकाशक को जानता है, अर्थात् स्वपरप्रकाशक ज्ञान को ही जानता है, पर को जानता नहीं है।

क्या कहा? इसको (काँच को) ज्ञानी जानता है, इसको। समझे? तो इसको जानता है? इसको नहीं जानता है। तो किसको जानता है? कि जो वो ज्ञेय ज्ञान में झलकता है, उस ही समय वो ज्ञान आत्मा को जानता है, वो ज्ञान आत्मा का कर्म है, इसलिए स्वपरप्रकाशक ज्ञान को जानता है, पर को जानता नहीं है। तेरे को स्वपरप्रकाशक चाहिए ना? ले, ये स्वपरप्रकाशक का स्वरूप है। आहाहा! अज्ञानी मानता है, जानता है, ऐसा स्व-परप्रकाशक नहीं है। आहाहा!

बाबूजी:- मार्मिक बात है!

उत्तर:- मार्मिक बात है! मगर संध्याबेन ने कहा, जब मैंने आने का इधर विचार किया, पहले तो 'न' बोलता था मैं। मेरा तो विषय सूक्ष्म है और यहाँ (वो) चले ना चले। तो स्थूल में मैं...ऐसा भाव ही घूँटाता है, वो ही भाव आता है ना। स्थूलभाव घूँटाता नहीं है, तो स्थूलभाव आता नहीं है। तो वो वहाँ ठीक पड़ेगा? (तो बहन ने कहा), कि हाँ! जितना सूक्ष्म कहना है, वो वहाँ कह देना। हमारे मुमुक्षु, भिंड

का मुमुक्षु पकड़ लेगा। इसने गेरेंटी दिया मेरे को। अच्छा! तो मैं आता हूँ। ये भिंड का तो नाम है, सब मुमुक्षु का है। यह भिंड की है शिविर, इसके लिए भिंड कहा है। बाकी तो सब गाँव-गाँव से बहुत लोग आए हैं।

आहाहा! एक बार इंद्रियज्ञान को जीत। राजमलजी साहब कहते हैं कि तेरे प्रयोजन की सिद्धि पर को जानने से तीनकाल में नहीं होगी।

मेरा एक पुत्र है, बड़ा पुत्र, उसकी अभी उमर ५८ साल की है, ५८। तो दस साल पहले मुंबई में उसने कहा पिताजी! आप कहते हो कि आत्मा पर को नहीं जानता है। तो आप के प्रति बहुत हल्ला मच गया है, बहुत हल्ला सारा हिंदुस्तान में (मच गया)। आपके साथ में कोई अभी है नहीं, ऐसा लगता है। कोई हो तो गुप्त होगा, वो तो ठीक है। तो ये क्या बात है? और आपके पास कोई न्याय, कोई तर्क, कोई है आपके पास? बताओ मेरे को (अगर) हो तो। हाँ! है। मगर मैं शास्त्र का आधार मैं नहीं दूँगा, गाथा का आधार मैं नहीं देनेवाला हूँ, नय, निक्षेप, प्रमाण की भाई मैं बात नहीं करूँगा, निश्चय से ऐसा और व्यवहार से ऐसा, नहीं बोलूँगा। अच्छा! तो-तो बहुत बढ़िया है। मैंने कहा सुन! तेरी ४८ साल की उम्र है, दस साल पहले की (बात है)। तो ये तूने आँख से कितना देखा? (तो कहें) कि बहुत देखा। कान से कितना सुना? (तो कहें) कि बहुत सुना। यानि पर को जानते-जानते यह जिंदगी चली गई। तो मैं पूछता हूँ कि तेरे को आनंद आया? तो कहें आनंद तो नहीं आया। आनंद नहीं आया, तो पर को जानना, (ऐसा) विभाव मान ले। ये अनुभव से सिद्ध होती है (बात) प्रत्येक जीव को। पूछ लो अपने आत्मा को। अपने आत्मा को पूछ लो कि पर को जानना जो स्वभाव हो, तूने मान रखा है... इंद्रियज्ञान तेरे पास है, इंद्रियज्ञान तो पर को जानता है। तो पर को जानते-जानते कभी तीनकाल में आत्मा का आनंद आता नहीं है। तो वहाँ से व्यावृत्त हो जा, व्यावृत्त हो जा। एक बार कोशिश तो कर कि क्या होगा। आहाहा! कि मैं पर को नहीं जानता हूँ, व्यवहार का निषेध किया और उपयोग आत्मा में आ जाता है। आहाहा!

एक चिदानंद आत्मा ही जानने में आ रहा है। सचमुच तो अज्ञानी को भी ज्ञान ही जानने में आता है। ज्ञेय जानने में आता नहीं है। क्या कहा अभी? कि अज्ञानी को भी ज्ञान ही जानने में आता है, परज्ञेय जानने में नहीं आता (है)। ये क्या बात है? इसमें शास्त्र का आधार चाहिए, इसमें तो। शास्त्र का आधार देता हूँ।

ये राजमलजी साहब ने २७१ नंबर का कलश बनाया। उसमें फ़रमाते हैं... ये जैनमत अनुयायी के लिए कलश है। अन्यमति तो छहद्रव्य को मानते नहीं है। उनको तो डिस्काउंट हो गया। अन्यमति तो उसमें बाद हो गया। अभी आहाहा! जैन हो गया, जैन। जैन में आया कि ये मैं ज्ञाता और षट्द्रव्य मेरा ज्ञेय, ऐसी भ्राँति अनादिकाल से आ रही है। भ्राँति लिखा, व्यवहार नहीं लिखा, क्योंकि अनुभव के पहले व्यवहार होता नहीं है। पहले भ्राँति होती है। भ्राँति का क्या अर्थ है? कि ये ज्ञेय है, मैं ज्ञाता हूँ, मैं ज्ञाता और ये ज्ञेय। तो उसने क्या भूल किया? ज्ञाता, ज्ञान तो इधर स्थापा, ज्ञान तो इधर रखा, ज्ञान तो इधर रखा और ज्ञेय उधर (बाहर) स्थाप दिया। समझे? तो वो जो ज्ञान की पर्याय है...ज्ञायक को अभी एक बाजू पर रखो। ज्ञान की जो पर्याय है, वो, उसमें अकेला ज्ञान ही धर्म है कि ज्ञेय धर्म है कि नहीं है?

है। प्रमेयत्व है। ज्ञान की पर्याय की बात मैं कहता हूँ। हों! डबल धर्म है। ज्ञान भी है और ज्ञेय भी वो ही है। समझ में आया कुछ?

तो तेरी ज्ञान की पर्याय में, ये ज्ञेय जानने में आया, तो इधर ज्ञान रखा और इधर ज्ञेय स्थापा। तो तेरी भूल क्या हो गई? (कि) इधर से (अंदर से) ज्ञेय को उथाप दिया, इधर से ज्ञेय को हटा दिया। क्योंकि, हिंदी में ज़रा मेरे को मदद करें बाबूजी, तो ठीक। गुजराती में तो बहुत फ्लो (प्रवाह) आता है, सरखा। मगर (हिन्दी में) शब्द की (कमी है)।

उसने भूल क्या किया? कि ज्ञेय तो वहाँ स्थाप दिया। ज्ञान तो रखा, ज्ञान तो उड़ाया नहीं, ज्ञान तो उड़ाया नहीं। मगर उसने क्या उड़ाया? ज्ञान के दो धर्म, ज्ञान और ज्ञेय, उसमें से एक ज्ञेय (धर्म) को निकाल दिया और एक ज्ञेय (धर्म) को निकालकर इधर स्थाप दिया। तो ज्ञेय को निकाला, तो ज्ञान, ज्ञान को जानने में आता नहीं है। जब ज्ञेय स्थापेगा, तो ज्ञान, ज्ञान को ही जानता है। और ज्ञान, ज्ञान को जानता है, तो ज्ञायक भी जानने में आ जाता है क्योंकि ज्ञायक और ज्ञान कथंचित् अभिन्न है।

फिर से, फिर से। महत्व की बात है, प्रयोजनभूत बात है और भाव तो ऐसा इसलिए आता है कि इधर ५० विद्वान आए हैं। वो विद्वान जैसे भाई साहब ने कहा कि पहले शब्द तो फिरना (चाहिये), भाव तो भले बाद में फिरे। आहाहा! वो लेकर इधर से जायें, क्योंकि थोड़ा प्रभावना का भी हमारा आहाहा! भाव रहता है। आहाहा!

फिर से बात निकालता हूँ कि अज्ञानी जीव लेना, अज्ञानी जीव। भले अज्ञानी हो, आत्मानुभव न हो, तो कोई तकलीफ नहीं है। मगर इस प्रक्रिया (को) जो जानेगा, तो उसको आत्मानुभव हो जाएगा कि ज्ञान की पर्याय प्रगट होती है। ये ज्ञेय है। समझे? ये ज्ञेय है सारा, ये ज्ञेय है, ये ज्ञेय है ना, ये ज्ञेय है और ज्ञान इधर। तो अज्ञानी जीव ने ज्ञान तो इधर रखा और ज्ञेय बाहर स्थापा। तो इसने क्या भूल किया? कि ज्ञान, ज्ञान भी है और ज्ञान ज्ञेय भी है। दो धर्म एक में हैं, एक ज्ञान की पर्याय में दो धर्म हैं। आहाहा! जो ज्ञान की पर्याय में दो धर्म नहीं हों तो ज्ञान, ज्ञान को जान सकते ही नहीं। दो धर्म एक साथ युगपद् हैं। युगपद्, ज्ञान का स्वभाव जानना भी है और ज्ञान, ज्ञान में जानने में आये, ऐसा स्वभाव ज्ञान की पर्याय में भी है।

अभी पर्याय की बात चलती है। भेद से मैं समझाता हूँ। बाद में, अभेद में चला जाता है ज्ञान। समझाने के लिए भेद करना पड़ता है। है तो अभेद, द्रव्य और पर्याय। ज्ञान और ज्ञायक जुदा नहीं है। कथंचित् एक है, तो भी समझाने के लिए, भेद करके समझाया जाता है। कि भूल क्या किया? कि इधर तो ज्ञान स्थापा और इधर (पर मे) ज्ञेय स्थाप दिया। तो (ज्ञान में से) ज्ञेय को स्थाप दिया, तो, ज्ञान, ज्ञान को जानता है, वह भूल जाता है और जहाँ ज्ञेय स्थापा, वहीं उसका लक्ष्य जाता है। समझ में आया? जहाँ ज्ञेय उसने स्थाप दिया, इधर (से) तो उथाप दिया। आहाहा! उथाप दिया समझे ना? उसमें से निकाल दिया। हें?

मुमुक्षुः- उड़ा दिया।

उत्तरः- नहीं मानता है (कि ज्ञेय इधर है)। मैं ज्ञान हूँ, मगर ज्ञेय तो वहाँ है। मैं ज्ञान हूँ, मगर ज्ञेय मैं नहीं हूँ। ज्ञेय तो यह (पर) है। तो (स्व) ज्ञेय का। आहाहा! इतना अनादर कर दिया। एक धर्म का

अनादर किया तो धर्मी का अनादर हो जाता है। क्या कहा? एक धर्म का अनादर किया आत्मा ने, "मैं ज्ञान तो हूँ मगर ज्ञेय मेरा वहाँ है।" तो जहाँ अभिप्राय में ज्ञेय स्थापा है, वहीं उपयोग चला जाता है, इसका नाम इंद्रियज्ञान है। और इंद्रियज्ञान को जीतना हो तो क्या करना? कि मेरा ज्ञान भी मेरे में है और मेरा ज्ञेय भी मेरे में है। मेरा ज्ञेय...ज्ञान से जुदा ज्ञेय होता नहीं है। धर्म से धर्मी जुदा नहीं होता है। ज्ञान धर्म है, उसका धर्म है, ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है, तो वो उसको जानने का उत्साह मिट जाता है। ज्ञेय को, परज्ञेय को जानने का (उत्साह मिट जाता है) क्योंकि ज्ञेय मेरे पास है। तो मैं ही ज्ञान के द्वारा मैं ही ज्ञान को जानूँ। अभेद से ज्ञायक को जानूँ, ऐसा जो ज्ञान जानने में आता है....अज्ञानी को भी समय-समय पर ज्ञान ही जानने में आता है। ज्ञेय जानने में नहीं आता है, तो भी उसको भ्राँति हो गई (कि) मैं ज्ञेय को जानता हूँ। भ्राँति का अर्थ समझे? भ्राँति, ऐसा है नहीं। जानता है ज्ञान को और मानता है ज्ञेय को, इसका नाम भ्राँति है। ज्ञान को ही जानता है। ज्ञान, ज्ञान को जाने बिना ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं होती है। बहुत मार्मिक है, बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

इतना अवसर कभी आता है? कभी-कभी आता है। अवसर आ गया। आहाहा! कि यह जो ज्ञान की पर्याय है, वह ज्ञान की पर्याय, ज्ञान की पर्याय को जाने बिना और ज्ञान की पर्याय ज्ञायक को जाने बिना, एक समय जाता नहीं है। मगर वो मानता नहीं है। वो तो ये मानता है कि ये ज्ञेय जानने में आता है। जानता है ज्ञान को (और) मानता है ज्ञेय को, इसका नाम भ्राँति। इसका नाम भ्राँति हो गई। आहाहा! भ्राँति ही संसार है और जब श्री गुरु आत्मज्ञानी गुरु मिलता है, अरे भैया! ये तू क्या करता है? (तो कहें) कि साहब! ज्ञान तो मेरे पास है, मगर ये लोकालोक ज्ञेय है मेरा। ये तेरा ज्ञेय नहीं है। तो साहब जो मेरा ज्ञेय नहीं है और उसको मैं नहीं जानूँ, तो स्वपरप्रकाशक की सिद्धि नहीं होगी। अच्छा! तेरे को स्वपरप्रकाशकज्ञान चाहिए? हाँ साहब! स्वपरप्रकाशक तो चाहिए, क्योंकि अज्ञानी सब, हमको, (जब) मैं कहता हूँ कि एक स्वप्रकाशक है, स्वप्रकाशक में ज्ञायक की सिद्धि होती है, तो चिल्लाता है। समझे? तो एकांत हो जाएगा, एकांत हो जाएगा। आहाहा! तो मैं क्या करूँ?

स्वपरप्रकाशक ज्ञान है। तेरे (को) स्वपरप्रकाशक चाहिए? सुन! कि ये ज्ञान की जो पर्याय है, उसमें ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है, वहाँ आ (जा)। वो उसको (पर को) थोड़े टाइम के लिए गौण कर दे। हें? मैं (पर को) जानता नहीं हूँ, ऐसे पहले कर दे। बाद में आ जाएगा, बाद में स्वयं आएगा। वो भी क्या करें, कहना पड़ता है। बाद में आता नहीं है, बाद में भी होता नहीं है। बाद में पर को जानने का आता ही नहीं है। मगर क्या करें? समझाने के लिए थोड़ा.... ये बालक झगड़ाखोर बहुत हो गया ना। कजियारा को क्या (कहते हो)? झगड़ाखोर। तो आहिस्ता-आहिस्ता, आहिस्ता-आहिस्ता, थोड़ा धीरे-धीरे उसको समझाने का तरीका है। आहाहा!

कि देख, पहले तेरे ज्ञान में ज्ञान जानने में आता है। क्रोध जानने में आया। अच्छा, क्रोध किसने जाना?

कि ज्ञान ने जाना।

तो, ज्ञान ज्ञान ने जाना कि नहीं जाना?

अरे! क्या बात है! हाँ! ज्ञान, ज्ञान को जानते-जानते क्रोध को जानता है।

अच्छा! ज्ञान, ज्ञान को जानते-जानते क्रोध को जानता है, यहाँ तक तो आया?

(तो कहें) हाँ!

अभी इतना कर, इतना कर कि ज्ञान, ज्ञान को ही जानता है, क्रोध को जानता नहीं है। बस इतनी देर है।

अच्छा! ऐसा करूँ?

भले! करो, भैया! कर ले तेरे हित की बात है।

अच्छा, अभी क्रोध नहीं जानने में आता है। ज्ञान की पर्याय (ही) ज्ञान की पर्याय में जानने में आ रही है।

अभी एक स्टेज बाकी है। थोड़ा सा बाकी है।

कि वो ज्ञान किसका है?

आत्मा का है।

ज्ञान ज्ञेय का नहीं है?

(कहे) कि नहीं है।

क्रोध का ज्ञान है?

(कहे) कि नहीं है।

तो ज्ञान किसका है?

आत्मा का है।

तो आत्मा का ज्ञान है, तो आत्मा जानने में आ जाता है, इसका नाम अनुभव है। आहाहा!

ऐसे इंद्रियज्ञान जीतने का ये तरीका है। ९:१५ से १०:१५ तक है ना, १०:३० (तक) है। अच्छा! ठीक है! अच्छी बात है! सबकी, ये रुचि का द्योतक है। हें? कंटाला नहीं है। सुनने का भाव आता है।

तो **भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयोंमें व्यापारभावसे जो विषयोंको खण्डखण्ड ग्रहण करती हैं**। एक-एक विषय को ग्रहण करता है, (तो) ज्ञान खंड-खंड हो गया। अखंड नहीं रहा, अखंड। आहाहा! अखंड को जानना चाहिए। अखंड भगवान आत्मा को जानना भूल गया और परज्ञेय को, एक-एक इंद्रिय के विषय को जानता है। एक को जानता है, तो दूसरे का जानने का बंद हुआ, तो दूसरे को जानने की इच्छा होती है। अभी इंद्रियज्ञान में इच्छा ही उत्पन्न होती है। इंद्रियज्ञान आकुलता का उत्पन्न करनेवाला है। इंद्रियज्ञान में एकांत दुःख ही है, अतींद्रियज्ञान में एकांत सुख ही है। आहाहा!

(ज्ञानको खण्डखण्डरूप बतलाती हैं) ऐसी भावेन्द्रियोंको, प्रतीतिमें, श्रद्धा में, **प्रतीतिमें आनेवाली अखण्ड एक चैतन्यशक्तिताके,** वहाँ खंड लिया, सामने चैतन्यशक्ति को अखंड लिया। अखंड को जानता (हुआ) ज्ञान अखंड हो जाता है। पर को जानते-जानते इंद्रियज्ञान खंड-खंड हो जाता है। आहाहा! अज्ञान हो जाता है। इंद्रियज्ञान is equal to (=) अज्ञान है। आहाहा! बात दो है, पहले अनुभव के पहले क्या करना और अनुभव के बाद क्या होता है। अभी अनुभव के बाद क्या होता है, वह मत सोच। अनुभव कैसे होवे, ये पहले बात जान ले। आहाहा! अनुभव के बाद तू अनुभवी होगा, तो किसी को पूछने की ज़रूरत नहीं रहेगी। आहाहा!

ये सारा ४५ साल (में) गुरुदेव ने जो प्रवचन दिया, वो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव (को) सामने रखकर, उसको आत्मानुभव कैसे हो, उसकी मुख्यता से वो प्रवचन दिया। आहाहा! बाद में गुणस्थान अनुसार उसको शुभभाव आएगा, वो बात उन्होंने छेड़ी नहीं। पहले सम्यगदृष्टि तो बन जा, बाद में व्यवहार, क्या गुणस्थान है, पंचम गुणस्थान में, छठवें गुणस्थान में क्या आएगा (वो बाद में)। चौथा गुणस्थान तो आया नहीं और पंचम गुणस्थान की शुभभाव की प्रैक्टिस करते कर्ताबुद्धि हो जाती है, मिथ्यात्व दृढ़ हो जाता है। आहाहा! ऐसा करना और ऐसा नहीं करना। अरे! ऐसा जानना और ऐसा नहीं जानना, ये भी नहीं (है)। एक को जानना है। आहाहा! ये ४५ साल उपदेश गुरुदेव ने किया कि प्रथम आत्मा को जान। प्रथम तो आत्मा को जान और जाने हुए का श्रद्धान हो जाएगा। बिना जाने हुए का श्रद्धान होता नहीं है। आहाहा! पर को जानने में रुकेगा, तो पर की श्रद्धा हो जाएगी। पर मेरा, पर मेरा है, ऐसा श्रद्धान हो जाएगा। जाणेला (जाने हुए) का श्रद्धान होता है, ये नियम है। वो स्व को जाने, तो स्व की श्रद्धा बनती है। पर को जाने तो पर मेरा, ऐसा विपरीत श्रद्धान हो जाता है। इसलिए इंद्रियज्ञान को जीत ले।

कैसे जीतें? कि **प्रतीतिमें आनेवाली अखण्ड एक चैतन्यशक्तिताके द्वारा सर्वथा अपनेसे भिन्न जाना;** इंद्रियज्ञान को, शास्त्रज्ञान को, कथंचित् भिन्न जाना नहीं। आहाहा! कथंचित् का प्रयोग कर-करके दृष्टि का विषय उसको हाथ में आता नहीं है। कथंचित् का जन्म तो अनुभूति के बाद होता है। अज्ञानी के पास कथंचित् होता नहीं है। सर्वथा होता है। अज्ञानी के पास सर्वथा पर मेरा है, ऐसा ही होता है। आहाहा! कथंचित् का, स्यादवाद का जन्म तो, अनुभव के काल में जन्म होता है। सम्यक्एकांतपूर्वक अनेकांत होता है। अनुभव के पहले अनेकांत का ज्ञान, स्याद्वाद का ज्ञान, कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न आता नहीं है। आहाहा! ये सब अतींद्रियज्ञान प्रगट होता है, उसमें मालूम पड़ जाता है।

चैतन्यशक्तिताके द्वारा सर्वथा अपनेसे भिन्न, ये जैनदर्शन में सर्वथा शब्द कहाँ से आया? जैन-दर्शन है तो अनेकांतवाद है, कथंचित् होना चाहिए। इंद्रियज्ञान कथंचित् भिन्न होना चाहिए। कथंचित् भिन्न उसका क्या कारण है? बोलता है कथंचित् भिन्न, मानता है सर्वथा अभिन्न, इसलिए कथंचित् का प्रयोग ज्ञानी के पास में (भी यह) कहलाता है कि आप कहो, थोड़ा कथंचित् की बात कहो, नहीं तो एकांत हो जाएगा, निश्चयाभासी हो जाएगा। अरे! स्वतंत्र हो जाएगा, उठ जाएगा और सिद्धालय में चला जाएगा। आहाहा!

एक दृष्टांत दिया, सोगानी जी साहब ने एक दृष्टांत दिया। एक पोपट था। पोपट क्या आपकी भाषा में क्या (बोलते हैं)? तोता, तोता उड़ते-उड़ते एक भूंगडी थी, लटकती हुई। तो भूंगडी में लटक गया, तो भूंगडी पकड़ लिया तो उल्टा सिर (माथा) हो गया। उल्टा माथा क्या? सिर नीचे और पैर ऊपर। तो उसको अभी जो छोड़ दूँ तो मर जाऊँ, छोड़ दूँ तो (मर जाऊँ)। पकड़ रखा, उसमें दूसरा तोता आया, दो, तीन, चार, आए। ये क्या करता है तू? (कहे) कि मैंने यह पकड़ा है, तो अभी छोड़ दूँ तो-तो मर जाऊँगा। छूटता नहीं है। कि छोड़ दे तो जिंदा रहेगा, मरेगा नहीं। देख! मेरे सामने देख! मेरे सामने देखकर तू तेरे सामने देख। तो बल आ गया। तो छोड़ दिया, उसने छोड़ दिया। तो उड़ गया कि

मर गया? (उड़ गया) आहाहा! ऐसे (अज्ञानी ने) व्यवहार का पक्ष पकड़ लिया है। ज्ञानी कहता है, छोड़ दे व्यवहार का पक्ष, परमात्मा बन जाएगा। आहाहा!

व्यवहार भले बाद में छूटे, मगर व्यवहार का पक्ष तो एक समय में छूटता है। अनुभूति के काल में छूट जाता है। आहाहा! व्यवहार का पक्ष मिथ्यात्व है। आहाहा! व्यवहार मिथ्यात्व नहीं है। व्यवहार तो जाना हुआ प्रयोजनवान, वह थोड़ी देर के लिए (है)। वो भी कहना पड़ता है, बाकी तो जाननहार २४ घंटे जानने में आता है। आहाहा! छूटता ही नहीं है। आत्मा को जानना, नींद में भी साधक आत्मा को ही जानता है, पर को जानता नहीं है। जणित (जानने मे आ) जाता है, वह अलग बात है। मगर जानने का पुरुषार्थ पर का नहीं है। स्व को जानने का नाम पुरुषार्थ है, बाकी केवलज्ञान में होगा, तब लोकालोक भी जानने में आ जाएगा। चिंता मत कर। मगर, आहाहा! उसको विश्वास नहीं आता है। पर को जानने का विश्वास आया, मगर क्रोध को जानते समय ज्ञान जानने में आता है, वो भूल जाता है। क्रोध जानने में आता है (ऐसा मानता है)।

अरे! ऊर्ध्वपने जो ज्ञान, ज्ञान को न जानता, तो क्रोध को भी नहीं जानता है। सूक्ष्म बात है! ज्ञान, ज्ञान को जो न जाने तो क्रोध भी जानने में नहीं आता। इसलिए ज्ञान, ज्ञान को जानता है, तो क्रोध भी जानने में आता है। ऐसी ज्ञान की पर्याय में स्वपरप्रकाशक शक्ति से तो ले (लो)। स्वप्रकाशक तो बाद में, आहाहा! कि ज्ञान की पर्याय में क्रोध जानने में आया, तो किसने जाना? (कहे) कि ज्ञान ने जाना। ज्ञान ज्ञान को जाने, जानते-जानते क्रोध को जानता है। ज्ञान, ज्ञान को नहीं जाने और क्रोध को जाने, ऐसी विश्व-व्यवस्था है नहीं। आहाहा!

एक बार ज्ञान जानने में आता है, क्रोध जानने में नहीं आता है, ऐसे पक्ष में तो आओ। पर्याय स्वभाव के पक्ष में तो आओ, द्रव्यस्वभाव का पक्ष तो बाद में। आहाहा! मगर ज्ञान की पर्याय जानने में आती है, तो ज्ञान की पर्याय किसकी है? कि आत्मा की है। तो आत्मा और ज्ञान कथंचित् अभिन्न होने से ज्ञान को जानता है, वो आत्मा को जान लेता है। ज्ञेय को जानने में रुकता है, उसको आत्मा जानने में आता नहीं है। सर्वथा की बात है। सर्वथा भिन्न जाना। आहाहा! राग तो सर्वथा भिन्न ही है। उसमें अभी समझ में नहीं आता (है) लोगों को कि, सर्वथा भिन्न नहीं कहो राग को, कथंचित् भिन्न-अभिन्न कहो। आहाहा!

जो इंद्रियज्ञान सर्वथा भिन्न है, तो राग तो सर्वथा भिन्न हो गया। तू कुंदकुंद भगवान को मानता है कि नहीं? तो कुंदकुंद भगवान फ़रमाते हैं कि शास्त्रज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न और आत्मज्ञान से भी सर्वथा भिन्न (है)। क्या कहा? शास्त्रज्ञान, इंद्रियज्ञान भगवान आत्मा से सर्वथा भिन्न (है) और आत्मा को प्रसिद्ध करनेवाला अतींद्रियज्ञान, उससे भी सर्वथा भिन्न है। एकताबुद्धि टूट जाती है और अनुभूति हो जाती है। इंद्रियज्ञान रह जाता है। क्या कहा? इंद्रियज्ञान के साथ एकत्वबुद्धि टूट जाती है, आत्मा के साथ एकत्वपना हो जाता है। और इंद्रियज्ञान भिन्न-भिन्न जानने में आया, इंद्रियज्ञान भिन्न-भिन्नरूप जानने में आता है। जैसे राग भिन्न जानने में आता है, जैसे ये ज्ञेय भिन्न है, ऐसे ही इंद्रियज्ञान ऐसे ही भिन्न है। जैसे दीवार भिन्न है, ऐसे इंद्रियज्ञान भिन्न है। आहाहा! इसका ऐसा बल आए बिना एकत्वबुद्धि टूटेगी नहीं। आहाहा!

सर्वथा शब्द इसमें है। तलाटी जी! इसमें लिखा है। सर्वथा भिन्न जाने, जब अंतर्दृष्टि हुई, प्रतीति में आ गया आत्मा, अखंड, अखंड प्रतीति में आया, तो अखंड में खंड का अभाव है। अखंड में (खंड का अभाव है)।

बाबूजी:- इंद्रिय है, द्रव्येन्द्रिय जैसा है।

उत्तर:- ये द्रव्येन्द्रिय जैसा भावन्द्रिय है। बाबूजी (ने) क्या कहा? यह जैसे द्रव्येन्द्रिय है ना, जड़-जड़, ऐसे भावन्द्रिय जड़ है, चेतन नहीं है। आहाहा!

ग्यारह भाग बाहर पड़े हैं, उसमें १०वां भाग है, प्रवचन रत्नाकर (का)। उसमें गुरुदेव का एक व्याख्यान है, ३९० से ४०४ गाथा है। ३९० से ४०४ गाथा है। पहले गाथा पढ़ूँ, तो आपको ख्याल में आ जाएगा। आहाहा! यह सब व्यवहार का लोप करनेवाले लगते हैं, सोनगढ़ (वाले)। अरे! लोप करेगा तो दर्शन आत्मा का होगा और लोभ करेगा व्यवहार का, तो आत्मा का दर्शन होनेवाला नहीं (है)। लोप में दर्शन है, लोभ में अदर्शन है। ये ज्ञानी का जन्म (ही)....व्यवहार का निषेध करने के लिए जन्मता है, क्योंकि व्यवहार का पक्ष है ना अनादिकाल का। आहाहा! और वो बल कहाँ से आता है? सचमुच तो अनुभव से बल आता है। तो भी, तो भी समाज के लिए देखो गुरुदेव! ये देखो, ११वीं गाथा, भैया! व्यवहार सघडोय (पूरा ही) अभूतार्थ है, क्योंकि अनुभवी को सब कबूल नहीं करते हैं। कोई-कोई कबूल करें। अनुभवी को सब नहीं कबूल करें। तो अनुभवी क्या करता है? कि शास्त्र का आधार देते हैं। देखो भैया! ये कुंदकुंद भगवान ने लिखा है, समझ में आया। तो ये इसमें ३९० से ४०४ गाथा, अच्छा! मूल श्लोक पढ़ूँगा, इसमें सब आ जाएगा। ६२२ (पेज), उसका हरिगीत है। ये ३९० गाथा, ३९१ गाथा। दो गाथा में सब सार आ जाता है।

रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान, क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं ।

रे! आहाहा! अरेरे! शास्त्र से ज्ञान नहीं होता है और शास्त्र का ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान तो ज्ञायक का ही होता है, सबको। कभी? तीनों काल। आहाहा!

रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान, क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं ।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र अन्य-प्रभू कहे ।।३९०।।

जिनेंद्र भगवान ने फ़रमाया। पहले शास्त्र की बात किया, क्योंकि ये पंचमकाल है ना, तो देशनालब्धि निरंतर नहीं मिलती, मगर शास्त्र तो निरंतर मिलता है। आहाहा! जिनवाणी नित्यबोधक है, जिनवाणी नित्यबोधक है। आहाहा! पंचमकाल के अंत तक ये शास्त्र तो, जिनवाणी तो रहनेवाली है। मगर ज्ञानी की देशनालब्धि तो कभी-कभी मिलती है, इसलिए पहला श्लोक शास्त्र का लिखा (है)। पहला श्लोक शास्त्र का लिखा (है)। बाद में, **रे! शब्द है नहीं ज्ञान**, देशनालब्धि जो शब्द है, वो ज्ञान नहीं है। **नहीं ज्ञान क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।** आहाहा! जो कुछ जानता नहीं उसके पास से ज्ञान लेने जाता है, ये (शास्त्र) कुछ जानता नहीं, उसके पास से ज्ञान लेने जाता है। उसमें ज्ञान तो है नहीं। इसमें ज्ञान नहीं है। उसके पास लेने को जाता है। ज्ञान तो इधर (आत्मा में) है, उसके पास तो देखता ही नहीं (है)। आहाहा!

रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान, क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं ।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र अन्य-प्रभू कहे ।।३९०।।

इसके ऊपर व्याख्यान है गुरुदेव का। अभी पढ़ा मैंने। गुरुदेव ने फ़रमाया है कि शास्त्र के लक्ष्यवाला जो ज्ञान है, वो जड़ और अचेतन है। इंद्रियज्ञान (अचेतन है), अभी पढ़ा मैंने। आहाहा! शास्त्र के लक्ष्यवाला जो ज्ञान है, वह जड़ और अचेतन, दो विशेषण लगाया। आहाहा! जड़ क्यों? कि ज्ञान अपने आप को जानता (नहीं है)। इंद्रियज्ञान अपने को नहीं जानता है। आहाहा! जड़ को जानता है, तो जड़ है। जड़ को जाननेवाला ज्ञान जड़ है और अचेतन को प्रसिद्ध करनेवाला ज्ञान अचेतन है। जड़ और अचेतन है। आहाहा! जैसा निमित्त, ऐसा ही नैमित्तिक। क्या कहा? वो शास्त्र के लक्ष्यवाला ज्ञान स्वाभाविक नहीं है। नैमित्तिक है कि नहीं? उसमें तो 'हाँ' बोलें सब। कि नहीं है नैमित्तिक, स्वाभाविक है? अचल जी! (नहीं नैमित्तिक है)। तो नैमित्तिक है तो जैसा निमित्त, ऐसा ही नैमित्तिक होता है। वो जड़, तो वो भी जड़। जैसे पुद्गल जड़, तो पुद्गल का लक्ष्यवाला, (लक्ष्य से) होनेवाला राग भी जड़। आहाहा! पाँच महाव्रत (जड़)। हाय! हाय! वो बात मत कहो, वह बात मत करो। आहाहा! प्रभु अवसर आया है। ऐसा मत कर, ऐसा (ना) मत कर। तेरी बात है, ऐसा (हाँ) कर। थोड़ा ऐसा कर, बाद में ज़्यादा करेगा। थोड़ा तो हाँ पाड़, हाँ पाड़ तो हालत हो जाएगी।

मैं ज्ञानमय आत्मा हूँ। समय-समय मेरा ज्ञान ही जानने में आता है। ज्ञेय जानने में आता नहीं है क्योंकि ज्ञान के साथ ज्ञायक का तन्मयपना है। तो जो जिसके साथ तन्मय है, वह जानने में आता है। जो भिन्नत्व है, तन्मय नहीं है, (वह) सचमुच जानने में आता नहीं है। तो क्या कहा अभी कि **अखण्ड एक चैतन्यशक्तिताके द्वारा सर्वथा अपनेसे भिन्न जाना**; इंद्रियज्ञान तो अनुभव के काल में, वो भिन्न प्रतीति में आ गया कि इंद्रियज्ञान मेरा भाव नहीं है। स्वामित्वबुद्धि छूटती है, तो कर्ता-कर्म भी छूट जाता है और ज्ञाता होने से इंद्रियज्ञान ज्ञेय होता है, मगर कर्ता का कर्म नहीं होता (है)। क्या कहा? इंद्रियज्ञान को जब भिन्न जाना तो कर्मपने जाना कि ज्ञेयरूप जाना? कि ज्ञाता को कोई कर्म होता ही नहीं है। ज्ञाता का कोई (कर्म होता ही नहीं है)। ज्ञेय होता है, वो भी व्यवहार ज्ञेय है। आहाहा! थोड़ी देर के लिए। कायम के लिए उसको जानना आत्मा का स्वभाव नहीं है। उसको जानने से सविकल्पदशा आ जाएगी। फिर निर्विकल्पध्यान के काल में वो जानना बंद करके साधक उपयोग अंदर में ले जाता है। आहाहा! तो फिर-फिर से निर्विकल्पध्यान आ जाता है। टाइम हो गया।